1937C Worship with Offering

Dravya Puja ke Rahasya Par Vichar (In Jain Darshan, January 1937)

द्रव्य पूजा के रहस्य पर विचार

(हीरालाल जैन शास्त्री उज्जैन)

'दर्शन' के विगत अंक में 'हमारी द्रव्य पूजा का रहस्य' शीर्षक लेख प्रगट हुआ है। विद्वान् लेखक ने गंभीर अनुमनन के बाद वह लेख लिखा है, यह प्रसन्नता की बात है और इससे भी अधिक प्रसन्नता की बात तो यह है कि किसी विद्वानने द्रव्य पूजा जैसे महत्वपूर्ण विषय पर अपनी गवेषणा पूर्ण दृष्टि तो डाली। क्योंकि वर्तमानका विद्वन्मंडल इससे प्रायः वंचित सा ही है। यही कारण है कि प्रतिदिन विद्वानों की संख्या वृद्धि होने पर भी इस ओर किसी ने रहस्य-निर्णय की दृष्टि से अपनी लेखनी नहीं उठाई। इस विषय पर स्वतन्त्रता पूर्वक रहस्य के उद्घाटनार्थ प्रथमवार लेखनी उठानेके नाते लेखक बधाई के भी पात्र हैं। क्योंकि मैं ने जिज्ञासु भाव से अनेकों बार, अनेक उपाधि-धारी प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वानों से 'पूजन' का रहस्य जानना चाहा, पर कई विद्वानों से तो 'कुछ' मिलने के स्थान पर ऐसे उत्तर मिले, कि जिन्हे सुनकर मेरे शोक का पारावार न रहा। अस्तु।

मैं यह लेख 'द्रव्य पूजा का रहस्य' को प्रगट करने के लिये नहीं लिख रहा हूं, क्योंकि न तो इस समय मेरे पास समय है न अभी तक यथेष्ट सामग्री ही जुट सकी है। जिससे कि उस पर पूर्णतया प्रकाश डाल सकूं, और न लेखक के लेखकी समीक्षा ही इस लेख में कर रहा हूँ, किन्तु लेखक की जिस खास बात से मैं असहमत हूं उस ओर दृष्टि डालना और 'द्रव्य पूजा के रहस्य' की ओर आचार्य परम्परा के अनुसार संकेत करना ही मेरे इस लेख का लक्ष्य है।

लेख प्रारम्भ करते हुए लेखकने द्वितीय पैराग्राफ के अन्त में लिखा है कि "यह तो ध्यान में रखना ही चाहिये कि जो विचार युक्ति और अनुभव विरुद्ध नहीं वे शास्त्र बाह्य नहीं कहे जा सकते हैं।" इस बात से मैं सहमत नहीं हूँ क्योंकि कभी-कभी ऐसा होता है कि विचार धारा या दृष्टि कोण दूसरी ओर होने के कारण शास्त्र बाह्य भी विचार युक्ति संगत एवं अनुभवानुमोदित से प्रतीत होने लगते हैं, पर यथार्थ में तो वे युक्त्याभास या अनुभवाभास ही सिद्ध होते हैं। इसका कोई यह अर्थ न समझे कि लेखक ने जो कुछ लिखा है, वह सब युक्त्याभास या अनुभवाभास ही है। नहीं, लेखक की कुछ बातों की तो पुष्टि आगम से बहुत अच्छी तरह होती है। और इस लिये मैं उस बातको लेखक की मौलिक न मान कर युक्ति पुरस्सर लिखी हुई ही मानता हूँ और इसी लिये सम्पादकीय नोट में सम्पादक का यह लिखना कि 'अष्ट द्रव्य को आहारदान का अनुकरण बताना एक अनोखी सूझ है' ठीक नहीं है, क्योंकि स्वामी समन्तभद्र ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्पष्ट रूप से नित्य 'पूजन' को वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत में अन्तर्हित किया है। तद्यथा—

'देवाधिदेवचरणे, परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥११७

श्लोक के अन्त में ग्रन्थकार ने 'नित्यम्' पद दे कर तो स्पष्ट रूप से 'नित्य पूजन' की ओर लक्ष्य

श्रीमान्निर्वाणसम्पद्वरयुवतिकरालीढकण्ठः सुकण्ठै-
र्देवेन्द्रैर्वन्द्यपादो जयति जिनपतिः प्राप्तकल्याणपूजः ॥

यह बात दूसरी है कि हम स्वेच्छया वैसे अर्थ को मान लेवें। किन्तु उपलब्ध आगमों से तो उस कल्पना की पुष्टि होती नहीं है। जहां तक मैं समझ सका हूं, आह्वानन आदि तीनों क्रियाओं का अर्थ कुछ और ही रहा है और कालभेद से या मूलपरम्परा के छिन्न भिन्न हो जाने और नाना परम्पराओं के उत्पन्न हो जाने से आज प्रचलित रूप दिखाई पड़ रहा है। यथार्थ में कई परम्पराओं का भिन्न रूप हमें इस वर्तमान की पूजन पद्धति में दृष्टिगोचर होता है, देखिये, उपलब्ध आगमों में हमें तीन परम्पराओं के दर्शन होते हैं:—

१— स्वामी समन्तभद्र तो नित्य पूजन को चतुर्थ शिक्षाव्रत में ग्रहण करते हैं। यह बात ऊपर दिखाई जा चुकी है।

२—सोमदेव सूरि अपने प्रसिद्ध यशस्तिलकचम्पू ग्रन्थ के भीतर, 'नित्य पूजन' को 'सामायिक' नामक प्रथम शिक्षाव्रत में प्रगट करते हैं। बल्कि उन्होंने तो देवोपासना को ही सामायिक शिक्षाव्रत स्वीकार किया है। ग्रन्थ सामने न होने से मैं उद्धरण देने में विवश हूं। जो देखना चाहें, वे यशस्तिलकचम्पू के उत्तरार्ध में द्वादश व्रतों के वर्णन को देखें। इस परम्परा का आभास वर्तमान में हमें आह्वानन आदि तथा कायोत्सर्ग आदि के रूप में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। साथ ही कुछ सामायिक पाठ भी ऐसे मिलते हैं, जिनमें देव पूजा को तदन्तर्गत देखा जाता है क्योंकि दश भक्तियों में से अरहंत भक्ति को प्रथम स्थान दिया गया है। और भक्तियां सामायिक व्रत के अन्तर्गत हैं यह बात उपलब्ध सामायिक पाठों के देखने से विदित होती है। भिन्न २ सामायिक पाठों के निर्माता आचार्य भी भिन्न भिन्न ही रहे हैं इस लिये यह परम्परा भी अनेक आचार्यों से अनुमोदित रही है ऐसा समझना चाहिये।

३—कुछ आचार्यों ने साधुओं के समान गृहस्थों के भी छह आवश्यक बताये हैं, जो कि प्रति दिन किये जाते हैं। उनमें देव पूजा को प्रथम या मुख्य स्थान दिया गया है। जैसे—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानश्चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने॥

उक्त परम्पराओं के अनुसार द्रव्य पूजाके क्या २ रूप रहे हैं, यह अभी तक अविदित है। हां, द्वितीय परम्परा का स्पष्ट रूप यशस्तिलकचम्पू में उल्लिखित है। परन्तु यदि छान-बीन की जाय, तो भिन्न २ परम्पराओं के भिन्न २ रूपों का हमें दर्शन हो सकता है, पर छान-बीन करे कौन? यह विकट प्रश्न खड़ा होता है।

हमारे दुर्भाग्य से प्रति वर्ष धर्म के नाम पर समाज लाखों रुपया खर्च करती है। पर एक ऐसा सरस्वती भवन कि जहां समस्त प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध हां, और जहां पर बैठ कर अपनी आजीविका से निश्चिन्त होकर कई विद्वान एक साथ गंभीर तत्वों की खोज कर सकें, आज तक भी समाज नहीं बना सकी है। यदि समाज चाहे तो किसीभी प्रसिद्ध सरस्वती भवन के साथ ऐसी योजना की जा सकती है, और वह बहुत शीघ्र सफल हो सकती है। विद्वन्मंडल खास कर पुरातत्वान्वेषी वर्ग एक लम्बे समय से ऐसी संस्था की आवश्यकता अनुभव कर रहा है,

पर देखें वहदिन कब नसीब होता है ! (इत्यप्रासङ्गकम्)

पूजा पद्धति सम्बन्धी खोज करने पर पता चलता है कि पहिले तदाकार स्थापना रूप पूजन और अतदाकार स्थापना रूप पूजन ऐसी दो पद्धतियां प्रचलित थीं। ये दोनों परिपाटियां इतनी अधिक व्यापक थीं कि उन्होंने जैनतर धर्मों पर भी अपना प्रभाव डाला है, जिसका कि आभास हमें उनके यहां बतलाई हुई सगुण पूजा और निर्गुण पूजा से मिलता है।

निराकार पूजा में आह्वानन, स्थापन, सन्निधीकरण और विसर्जन की क्रिया की जाती रही है, ऐसा प्रतीत होता है और वह युक्तियुक्त भी जंचती है क्योंकिः—

पूजक के सामने जब तक कोई आदर्श उपस्थित न हो तब तक वह उसको पूजा कैसे कर सकता है। अतएव प्रतिमा (तदाकार मूर्ति) के अभाव में यह आवश्यक है कि कोई न कोई आलम्बन बनाया जाय और उसके लिये पुष्पों में स्थापना तथा आह्वानन आदिकी विधि बतलाई गई। जब आह्वानन किया गया, पुष्पों में स्थापना कोगई तो उन पुष्पों के इधर उधर पड़ जाने से अविनय न हो-इसलिये उस स्थापना का विसर्जन करना भी आवश्यक होगया और इस प्रकार एक पूजन सामान्य के लिये आरम्भ में आह्वानन आदि तीन कार्य और अन्तमें विसर्जन ऐसे मिलकर पूरे पंच अंग तैयार होगये। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि आह्वाननादिक, निराकार पूजनके ध्वंसावशेष हैं। किन्तु—

तदाकार पूजनमें तो उनकी आवश्यकता ही नहीं है और न पूर्वकालमें भी रही है—ऐसा आगमाभ्यास से पता चलता है। इस बातकी पुष्टिके लिये आगम प्रमाण मिले हैं; वे इस प्रकार हैं—

साकारादिनिराकारा, स्थापना द्विविधा मता।
अक्षतादिनिराकारा, साकारा प्रतिमादिषु॥
आह्वानं प्रतिष्ठानं, सन्निधीकरणं तथा।
पूजा विसर्जनं चेति, निराकारे भवेदिति॥
साकारे जिन बिम्बे स्यादेक एवोपचारकः।
सचाष्टविध एवोक्तं जलगन्धाक्षतादिभिः॥३॥

प्रतिष्ठादीपक नामकरणमध्ये

अन्तिम श्लोकमें पठित दो-दो एवकार इस बात को स्पष्ट घोषित करते हैं कि यही साकार या निराकार पूजनकी पद्धति रही है। किन्तु कालदोष से मूल परम्परा नष्ट होगई है और खिचड़ी रूप दृष्टिगोचर हो रहा है।

इन दोनों प्रकारकी पूजनों का स्पष्टतया लगभग इसी प्रकारका उल्लेख यशस्तिलक तथा अन्य ग्रन्थोंमें भी उपलब्ध है पर ग्रन्थ सामने न होने से प्रमाण देने में विवश हूं। शेष बातों पर फिर कभी प्रकाश डाला जायगा। आशा है हमारे विद्वान पाठक द्रव्यपूजनके रहस्य पर अपने २ विचार प्रगट करेंगे।

द्रव्य पूजा के रहस्य पर विचार

'दर्शन' के विगत अंक में 'हमारी द्रव्य पूजा का रहस्य' शीर्षक लेख प्रकट हुआ है। विद्वान् लेखक ने गंभीर अनुसंधान के बाद यह लेख लिखा है, यह प्रसन्नता की बात है और इससे भी अधिक प्रसन्नता की बात तो यह है कि किसी विद्वान ने द्रव्य पूजा जैसे महत्वपूर्ण विषय पर अपनी गवेषणा-पूर्ण दृष्टि तो डाली। क्योंकि वर्तमान का विद्वन्मंडल इससे प्रायः वंचित सा ही है। यही कारण है कि प्रतिष्ठित विद्वानों की व्याख्याएँ होने पर भी इस ओर किसी ने रहस्य-निर्णय की दृष्टि से अपनी लेखनी नहीं उठाई। इस विषय पर स्वतन्त्रता पूर्वक रहस्य के उद्घाटनार्थ प्रथम बार लेखनी उठाने के नाते लेखक बधाई के भी पात्र हैं। क्योंकि मैंने जिज्ञासु भाव से अनेकों बार, अनेक-उपाधि-धारी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वानों से 'पूजन' का रहस्य जानना चाहा, पर कई विद्वानों से तो 'कुछ' मिलने के स्थान पर ऐसे उत्तर मिले, कि जिन्हें सुनकर मेरे शोक का पारावार न रहा। अस्तु।

मैं यह लेख 'द्रव्य पूजा के रहस्य' को प्रकट करने के लिए नहीं लिख रहा हूं, क्योंकि न तो इस समय मेरे पास समय है न अभी तक यथेष्ट सामग्री जुट सकी है, जिससे कि उस पर पूर्णतया प्रकाश डाल सकूं, और न लेखक के लेख की समीक्षा ही इस लेख में कर रहा हूं; किन्तु लेखक की जिस खास बात से मैं असहमत हूं उस ओर दृष्टि डालना और 'द्रव्य पूजा के रहस्य' की ओर आचार्य जिनसेन के अनुसार संकेत करना ही मेरे इस लेख का लक्ष्य है।

लेख प्रारंभ करते हुए लेखक ने द्वितीय पैराग्राफ के अन्त में लिखा है कि "... यह तो मानना ही चाहिए कि जो विचार युक्ति और अनुभव विरुद्ध नहीं, वे शास्त्र बाह्य नहीं कहे जा सकते हैं।" इस बात से मैं सहमत नहीं हूं, क्योंकि कभी कभी ऐसा होता है कि विचारधारा या दृष्टि कोण दूसरी ओर होने के कारण शास्त्र बाह्य भी विचार युक्तिसंगत एवं अनुभवानुमोदित से प्रतीत होने लगते हैं; पर यथार्थ में तो वे युक्त्याभास या अनुभवाभास ही सिद्ध होते हैं। इसका कोई यह अर्थ न लगावे कि लेखक ने जो कुछ लिखा-

है, वह सब कल्पनाभास या अनुमानाभास ही है। वहीं लेखक की कुछ बातें भी जो मुझे आगम से बहुत अच्छी मालूम होती हैं और इसलिए मैं उन बातों को लेखक की मौलिक न मानकर श्रुति पुरस्सर लिखी हुई ही मानता हूं और इसी लिए सम्पादकीय फुट-नोट में सम्पादक का यह लिखना कि 'आठ द्रव्य को आहार दान का अनुकरण बताना एक अनोखी सूझ है' ठीक नहीं है, क्योंकि स्वामी समन्तभद्र ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्पष्ट रूप से नित्य-पूजन को वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत में अन्तर्हित किया है। यथा-

'देवाधिदेवचरणे, परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥११९॥

श्लोक के अन्त में ग्रन्थकार ने 'नित्यम्' पद देकर तो स्पष्ट रूप से 'नित्य पूजन' की ओर लक्ष्य किया है और 'परिचिनुयात्' पद को देखते हुए यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि द्रव्य पूजा की ओर ही उन्होंने संकेत किया है। 'आदृतः' पद भाव पूजा का द्योतक है। मत-भेद केवल इतना सा रह जाता है कि आठों ही द्रव्यों को आहार दान का अनुकरण नहीं मान सकते, क्योंकि दीप धूप आदि का आहार में कोई महत्व या स्थान नहीं है।

यहां पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्वामी समन्तभद्र ने अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत के स्थान पर 'वैयावृत्य' को कहा है। जबकि उनके पूर्ववर्ती सूत्रकार भगवान् उमास्वाति 'अतिथि-संविभाग' नाम ही चतुर्थ शिक्षाव्रत का देते हैं। प्रसंगवश यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि 'अतिथि संविभाग' यह-नाम प्रधानतया आहार-दान को ही व्यक्त करता है, शेष दान तो उपलक्षण से या गौण रूप से ही व्यक्त होते हैं। इस कथन की पुष्टि इस व्रत के बतलाये गए अतिचारों से ही होती है, जैसे-

'सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः॥

— तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ सूत्र ३६॥

'हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।
वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते॥

— रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लो० १२१॥

यह यदि कोई कहे कि अतिथि के लिए संविभाग से औषध-आदि सभी वस्तुओं का हो सकता है ~~[illegible]~~ आहार दान का ही मुख्य अर्थ कैसे लेते हैं, तो उसके उत्तर में ~~[illegible]~~ आगम में ऐसी आज्ञा-दी गई है कि आदि के दो शिक्षाव्रत तो अभ्यास के लिए हैं जो प्रतिदिन या कादाचित्क भी हो सकते हैं किन्तु अन्त के दो शिक्षा-व्रत प्रतिदिवस आवश्यक नहीं हैं, और प्रतिदिन दातव्य वस्तु-आहार ही है औषधादिक तो कादाचित्क देय पदार्थ हैं। श्वेताम्बर आगम सूत्रों में भी अतिथि संविभाग व्रत का स्वरूप इसी प्रकार बताया है। जैसे —

'अतिहिसंविभागो नाम नायागयाणं कप्पणिज्जाणं अन्न-पाणाईणं दव्वाणं देसकाल सद्धा सक्कारकम संजुत्तं पराए भत्तीए आयाणुग्गह ~~[illegible]~~ बुद्धीए संजयाणं दाणं ॥'

इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार ~~[illegible]~~ [illegible] होती है —

"अतिथिसंविभागो नाम न्यायागतानां कल्पनीयानाम् अन्न-पानादीनां द्रव्याणां देशकालश्रद्धासत्कारक्रमयुक्तं परया भक्त्या आत्मानुग्रहबुद्ध्या संयतेभ्यो दानम्।"

द्रव्य पूजन में सचित्त पदार्थ होना चाहिए या अचित्त-पदार्थ? इस बात का निर्णय भी अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत के अतिचारों से भलीभांति हो जाता है। क्योंकि जब जिनपूजन चतुर्थ शिक्षाव्रत में आचरित है और उसके अतिचारों में — सचित्त निक्षेप एवं सचित्त पिधान तक को गर्भित किया है तो स्वयं सचित्त ~~[illegible]~~ वस्तु कैसे पूजन के योग्य हो सकती-है? अस्तु, यह प्रश्न लेख के विषय से बाहर है अतः यहीं छोड़ता हूँ।

लेखक की दूसरी बात जो मुझे आपत्ति जनक प्रतीत होती है, वह है — आह्वानन आदि पर अपने मौलिक विचार।

~~[illegible]~~

क्योंकि देव पूजन से तात्पर्य अर्हन्त या सिद्ध पूजन से लिया जाता है और आचार्यों का भी ऐसा ही अभिप्राय रहा है यह बात आह्वानन के आद्य श्लोक के ~~[illegible]~~ पढ़ने से स्पष्ट है। जैसे कि —

[illegible] सर्वहितार्थः सकलतनुभृतां पापतापापहर्ता, [illegible]
[illegible] लोकालोकप्रकाशि [illegible]
[illegible]
[illegible] ॥

यह बात दूसरी है कि हम स्वेच्छया वैसे अर्थ भी मान लेवें। किन्तु ~~आगम~~ उपलब्ध आगमों से तो उस कल्पना की पुष्टि होती नहीं है। जहां तक मैं समझ सका हूं, आह्वानन आदि तीनों क्रियाओं का अर्थ कुछ और ही रहा है और कालभेद से या ~~देश~~ मूल परम्परा के छिन्न-भिन्न हो जाने और नाना परम्पराओं के उत्पन्न हो जाने से आज प्रचलित रूप दिखाई पड़ रहा है। यथार्थ में कई परम्पराओं का मिश्र रूप ही इस वर्तमान की पूजन पद्धति में दृष्टिगोचर होता है। देखिए, उपलब्ध आगमों में हमें तीन परम्पराओं के दर्शन होते हैं:—

(१) स्वामी समन्तभद्र तो 'नित्य पूजन' को चतुर्थ शिक्षाव्रत में ग्रहण करते हैं। यह बात ऊपर दिखाई जा चुकी है।

(२) सोमदेव सूरि ~~न~~ अपने प्रसिद्ध यशस्तिलक चम्पू ग्रन्थ में भी 'नित्य पूजन' को सामायिक नामक प्रथम शिक्षाव्रत में प्रारम्भ करते हैं। बल्कि उन्होंने तो देवोपासना को ही सामायिक शिक्षाव्रत स्वीकार किया है। ग्रन्थ सामने न होने से मैं उद्धरण देने में विवश हूं। जो देखना चाहें, वे यशस्तिलक चम्पू के आठवें आश्वास में द्वादश व्रतों के वर्णन को देखें।

इस परम्परा का आभास हमें आह्वानन आदि ~~तथा~~ कायोत्सर्ग आदि के रूप में स्पष्ट ~~रूप~~ दृष्टिगोचर होता है। साथ ही कुछ सामायिक पाठ भी ऐसे मिलते हैं, जिनमें भी देव-पूजा को तदन्तर्गत देखा जाता है क्योंकि इन सामायिकों में अर्हन्त भक्ति को प्रधान स्थान दिया गया है और भक्ति सामायिक व्रत के अन्तर्गत है यह बात उपलब्ध सामायिक पाठों के देखने से विदित होती है। भिन्न २ सामायिक पाठों के निर्माता आचार्य भी भिन्न भिन्न ही हुए हैं इसलिए यह परम्परा भी अनेक आचार्यों से अनुमोदित रही है ऐसा समझना चाहिए।

(3) कुछ आचार्यों ने साधुओं के समान गृहस्थों के भी छह आवश्यक बताये हैं, जो कि प्रतिदिन किये जाते हैं। उनमें देव पूजा को प्रथम या मुख्य स्थान दिया गया है। जैसे —

'देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने॥'

उक्त परम्पराओं के अनुसार प्रथम पूजा का क्या रूप रहे हैं, यह अभी तक अविदित है। हाँ, द्वितीय परम्परा का स्पष्ट रूप व्याख्यानिक वाङ्मय में उल्लिखित है। परन्तु यदि छान-बीन की जाय, तो भिन्न २ परम्पराओं के भिन्न २ रूपों का दर्शन हो सकता है। पर छान-बीन करे कौन? यह विकट प्रश्न खड़ा होता है। हमारे दुर्भाग्य से प्रतिवर्ष धर्म के नाम पर समाज लाखों रुपया खर्च करती है, पर एक ऐसा सरस्वती भवन - कि जहां सभी प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध हों, और जहां पर बैठ कर अपनी आजीविका से निश्चिन्त होकर कई विद्वान एक साथ गम्भीर तत्त्वों की खोज कर सकें"; आज तक भी नहीं बन सकी है। यदि समाज चाहे, तो किसी भी प्रसिद्ध सरस्वती भवन के साथ ऐसी योजना की जा सकती है, और वह बहुत शीघ्र सफल हो सकती है। विद्वद्गोष्ठी खोजकर पुरातत्त्वान्वेषी वर्ग एक लम्बे समय से ऐसी संस्था की आवश्यकता अनुभव करता रहा है, पर देखें - वह दिन कब नसीब होता है!!! (इत्यप्रासङ्गिकम्)

पूजा पद्धति सम्बन्धी खोज करने पर पता चलता है कि पहले तदाकार स्थापना रूप पूजन और अतदाकार स्थापना रूप पूजन ऐसी दो पद्धतियां प्रचलित थीं। ये दोनों परिपाटियां इतनी अधिक व्यापक थीं कि उन्होंने जैनेतर धर्मों पर भी अपना प्रभाव डाला है, जिसका कि आभास हमें उनके यहां बताई हुई सगुण पूजा और निर्गुण पूजाओं में मिलता है।

निराकार पूजन में आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण और विसर्जन की क्रिया की जाती रही है, ऐसा प्रतीत होता है और वह युक्तियुक्त भी जंचती है, क्योंकि —

...तक के कार्य में जब तक कोई आदर्श उपस्थित न हो, तब तक कैसे वह उनकी पूजा कर सकता है। अतएव प्रतिमा (साकार मूर्ति) के अभाव में यह आवश्यक है कि कोई न कोई आलम्बन बनाया जाए और उसी के लिए पुष्पों में स्थापना तथा आह्वानन आदि की विधि बनाई गई। जब आह्वानन किया गया, पुष्पों में स्थापना की गई, तो उन पुष्पों के इधर-उधर पड़ जाने से अविनय न हो-इसलिए उस स्थापना का विसर्जन भी करना आवश्यक हो गया और इस प्रकार एक पूजन के लिए आरम्भ में आह्वानन आदि तीन कार्य और अन्त में ~~पूजन~~ विसर्जन ऐसे मिलकर पूरे पंच उपचार हो गए। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि आह्वानादिक, निराकार पूजा के द्योतक-रूप हैं। किन्तु—

तदाकार पूजन में तो उनकी आवश्यकता ही नहीं है। और न इसलिए वे भी—रही हैं—ऐसा ~~प्रतीत~~ आगमाभ्यास से ~~अनुभव होता है~~। पता चलता है। ~~कि यह पूजन की होती है~~ कि इस बात की पुष्टि के लिए आगम प्रमाण मिलते हैं - वे इस प्रकार हैं: —

साकारादि निराकारा, स्थापनाद्विविधा मता।
अक्षतादि निराकारा, साकारा प्रतिमादिषु ॥१॥
आह्वानं प्रतिष्ठानं, सन्निधीकरणं तथा।
पूजा विसर्जनं चेति, निराकारे भवेदिति ॥२॥
साकारे जिनबिम्बे स्यादेक एवोपचारकः।
स चाष्टविधपूजायां जलगन्धाक्षतादिभिः ॥३॥
— ज्ञानदीपक नामक ग्रन्थ से

अन्तिम श्लोकार्द्ध पंक्ति दो-दो प्रकार इस बात की स्पष्ट घोषित करते हैं कि यही साकार या निराकार पूजन की पद्धति रही है। किन्तु कालदोष से मूल परम्परा नष्ट हो गई और खिचड़ी रूप दृष्टिगोचर हो रहा है। ~~इन~~

इन दोनों प्रकार की पूजनों का स्पष्टतया ~~सही~~ लोगों का—इसी प्रकार का उल्लेख वसुनन्दि श्रावकाचार तथा अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। पर ग्रन्थ बढ़ने न देने से प्रमाण देना नहीं लिखा है।